वैदिक वर्ण व्यवस्था का लौकिक विस्तार

डॉ० इन्दिरा जुगरान
एसो०प्रोफेसर-संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय ऋषिकेश

वैदिक कालीन युग में गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार मानव समाज को चातुर्वर्ण्य में व्यवस्थित किया गया था। चातुर्वर्ण्य का अर्थ है समाज की चतुर्मुख कार्यकारी अथवा तात्विक व्यवस्था अर्थात् चार सामाजिक स्तरों में विभाजन जिनमें से प्रत्येक स्तर के अपने विशेष लक्षण मूल्य और गुण हैं। वैदिक वर्ण व्यवस्था में सभी मर्यादित जीवन व्यतीत करते हुए ऐहिलौकिक एवं पार लौकिक उन्नति को प्राप्त करने के प्रति कटिबद्ध एवं सजग रहते थे। व्यष्टि और समष्टि की पृथक-पृथक उन्नति को एक देश में स्थापित एवं नियमित करने के उद्देश्य से ही वर्णाश्रम की व्यवस्था की गई।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति-वर्ण शब्द की रचना 'वृञ् वरणे' धातु से निष्पन्न होती है। इसका अर्थ है, चुन लेना। मनुष्य अपने स्वभाव तथा योग्यता के आधार पर अपना वर्ण चुनता है। आचार्य यास्क ने वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से मानी है - वर्णो वृणोतेः (चुना जाना, वरण करना)[1] अर्थात् वर्ण योग्यता जनित चुनाव, विशेषता या श्रेष्ठता का द्योतक है। वामन शिवराम आप्टे ने वर्ण शब्द को वर्ण धातु से 'घञ्' प्रत्यय पूर्वक निष्पन्न बताते हुए इसके अर्थ किये हैं-रंग-रुप सौन्दर्य, मनुष्य : जनजाति,[2] कबीला जाति[2] (मुख्य रुप से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र)

वर्ण शब्द का तात्पर्य चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता व गुणवत्ता पर आधारित है। वर्ण अपनी रुचि से अपनाया जाता है।

वेद और उपनिषद आदि के अध्ययन से यह पता लगता है कि वर्ण व्यवस्था का आधार मनुष्य के गुण कर्म ही थे। किन्तु ऋग्वेद के मुख्य भाग में वर्णगत कर्म व्यवस्था की सूचना नहीं मिलती कभी-कभी एक ही परिवार में पुरोहित और सत्तु पीसने के व्यवसायों का अस्तित्व मिलता है[3]-

आरम्भ में यह अद्वितीय ब्रह्म ही था।[4] अर्थात् सृष्टि के आदि में एक मात्र ब्राह्मण वर्ण ही था। वह अकेला क्षत्रियादि पालन कर्त्ता के न होने से विभूति युक्त कर्म करने में

समर्थ न हो सका। तब उस ब्रह्म ने (मैं ब्राह्मण हूँ–मेरा यह कर्तव्य है ऐसी विशेषता से) क्षत्र इस प्रशस्त रुप की रचना की अर्थात् देवताओं में ये जो क्षत्रिय इन्द्र, वरुण सोम, रुद्र, मेघ यम, मृत्यु तथा ईशानादि हैं। इन्हीं के लिए उसे (देश क्षत्र सृष्टि को) उत्पन्न किया। अतएव क्षत्रिय से बढ़कर कोई नही है। इसलिए राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण जाति वाले नीचे बैठकर क्षत्रिय जाति की उपासना करते हैं। वे क्षत्रिय में ही ब्रह्म इस नाम रुप वाले अपने यश को स्थापित करते हैं। वह जो ब्रह्म है, क्षत्रिय की योनि है। अतः यद्यपि राजा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है फिर भी राजसूय यज्ञ के अन्त में वह ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस ब्राह्मण को पीड़ा पहुँचाता है वह मानों अपनी योनि का ही नाश करता है।[5]

ब्राह्मण से वैश्य जाति की सृष्टि–धनोपार्जन करने वाले का अभाव होने के कारण वह ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने वैश्य जाति की उत्पत्ति की। जो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेवा और मरुत इत्यादि देवगण एक–एक गण रुप से कहे जाते हैं इन्हें उत्पन्न किया।[6]

शूद्र जाति की रचना–सेवक के न रहने से फिर भी वह ब्रह्मविभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने शुद्र वर्ण को रचा। पूषा देव शुद्र वर्ण है, यह पृषिणी ही पूषा है क्योंकि यह जो कुछ है उन सबका यही पोषण करती हैं।[7]

इस प्रकार ब्रह्म, क्षत्र, विश् और शुद्र–ये चार देव–वर्ण बने। इन चार देव वर्णों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र–ये चार मानुष्य वर्ण प्रतिष्ठित हुए। चारों प्राकृत देववर्ण ही इन चारों मनुष्य वर्णों के नियामक धर्म माने गये।

भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था के प्रारम्भ का प्रथम संकेत 'ऋग्वेद' के पुरुष सूक्त में है। ऋग्वेद काल में समाज को पुरुष का रुपक देकर उसके चार अंगों (मुख, भुजा, मध्यभाग, (उरु) और पैर) के रुप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र वर्ण की कल्पना की गई थी।[8]

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृत।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पदाभ्यां शुद्रोऽजायत्।।

इस रुपक ये यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार शरीर के यह चारों अंग मिलकर एक शरीर बनाते हैं उसी प्रकार ब्राह्मणदि चारों वर्ण मिलकर एक समाज बनाते हैं।

भारतीय दर्शन के लोक प्रिय और व्यवहारिक ग्रन्थ गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वर्णों की व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं कर्म के आधार पर होती है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण विभागशः।[9]

गुणों एवं कर्मों के आधार पर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शुद्र इन चार वर्णों की रचना मेरे द्वारा की गई है। कर्म गुणों के विकार हैं अथवा कर्म गुणों से उत्पन्न होते हैं और गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति परमेश्वर की है अतः इस सम्बन्ध से गुण कर्मानुसार बनी हुई वर्णव्यवस्था के आदि कर्त्ता या मूल कर्त्ता परमात्मा ही है। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था योग्यता के आधार पर बनायी गई है। जिसमें जैसी योग्यता होती है वह उसी के अनुसार कार्य कर सकता है।

महाभारत का यह उल्लेख करना कि प्राचीन काल में मात्र एक ही वर्ण था। लेकिन कर्म विभाग के कारण उसी एक वर्ण में चार वर्णों की प्रतिष्ठा हुई :–

एक वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठरः।[10]
कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वण्यं प्रतिष्ठितम्।।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म भी प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों के आधार पर ही विभक्त किये गये हैं।[11] चारों वर्णों का वर्णन इस प्रकार निर्दिष्ट है–

ब्राह्मण – ब्राह्मण के लिए वेद मन्त्रों में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है।[12] चारों वर्गों में ब्राह्मण को मुख इसलिए कहा गया है कि वह विद्या और ज्ञान की व्यवस्था करें। याज्ञवालक्य स्मृति–1/198 में ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। वेदाध्ययन के साथ ही वेदाध्यापन भी ब्राह्मण का कर्तव्य था।

जो सत्व गुण प्रधान होता है वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण वर्ण का प्रमुख वैशिष्ट्य स्वाध्याय एवं प्रवचन अर्थात् आत्मोन्नयन हेतु अध्ययन मनन तथा अन्यों को ज्ञान दान करना बतलाया गया है। वह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाये जाने का अधिकारी होता है जो

आजीवन ज्ञानार्जन एवं ज्ञान दान के कर्म में व्यस्त रहता है, जिसका व्यवहार समाज में सर्वथा स्तुत्य एवं अनुकरणीय हो।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्ति रार्जवमेव च।[13]
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रहन कर्म स्वभावजम्।।

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिक भाव ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। जो आत्म संयमी है वो ब्राह्मण हैं, जो केवल ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुआ है और उपरोक्त गुणों से वंचित है वह ब्राह्मण नहीं है। त्याग और तपस्या ही ब्राह्मण का धर्म है, जो त्यागी और तपस्वी न हो वह ब्राह्मण नहीं है।

अग्नि प्राण देवता से सम्बद्ध होने के कारण ब्राह्मण धर्म की आत्मा अग्नि प्रधान हुई–अर्थात् उसकी आत्मा में अग्नि भाव की प्रधानता होती है।

स्मृति पुराणों में ब्राह्मण के 8 भेदों का वर्णन मिलता है– मात्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, अनुचान भ्रूण, ऋषिकल्प, ऋषि एवं मुनि।

जिस समय ब्राह्मण वर्ग में से जन्मजात रुढ़ जातीय जीवन का विकास हुआ तब ब्राह्मणों में से दस प्रकार के ब्राह्मण इस भूमण्डल में प्रसिद्ध हुए। पंच गौड़ एवं पंच द्रविड़ विन्ध्याचल के उत्तर में निवास करने वाले सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, उत्कल, एवं मैथिल पंच गौड़ कहलाए।

विन्ध्याचल के दक्षिण में निवास करने वाले कर्नाटक तैलंग, द्रविड़, गुर्जर व महाराष्ट्र पंच द्रविड़ कहलाए।

कालान्तर में जब विभिन्न कारणों से जातियाँ उपजातियों में बँटी तो स्थान विशेष के कारण कश्मीर में रहने वाले कश्मीरी ब्राह्माण, कन्नौज के कान्यकुब्ज ब्राह्मण, गौड़ देश के गौड़ ब्राह्मण, श्रीमाल प्रदेश के रहने वाले श्रीमाली ब्राह्मण नाम से जाने लगे। नदियों के किनारे बसने के कारण सारस्वत्, सरयुपाणी, गंगापारी, जमुनापारी आदि। प्राचीन ऋषियों के वंशजों ने ऋषिकुल या गोत्र के नाम को ही उपनाम की तरह अपना लिया जैसे भृगुकुल के वंशज भार्गव कहलाये। इसी तरह से गौतम, गर्ग, भरद्वज आदि।

बहुत से ब्राह्मणों को अनेक शासकों ने कई तरह की उपाधियाँ दी बाद में उनके वंशजों, ने उपनाम की तरह उपयोग किया जैसे राव, जमींदार, रावल, महारावल, देश मुख, मांडलिक आदि। विद्या के आधार पर जैसे–चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी, शास्त्री इत्यादि। भारत में ब्राह्मणों की जातियों एवं उपजातियों के अनेक विभेद है।

क्षत्रिय :– अर्थर्ववेद (2/5/4) में क्षत्र शब्द को शक्ति का बोधक माना गया। अथर्ववेद में (5/17/9) में राजन्य शब्द भी क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्षत्रिय को भुजा कहा गया है। भुजाएँ शक्ति की प्रतीक होती है। क्षत्रिय क्रियामय वर्ण है इन्द्र प्राण देवता से सम्बद्ध होने के कारण उसकी आत्मा में वीर भाव की प्रधानता होती है। ओज, तेज, प्रताप, पराक्रम, बल, विक्रम आदि वीर भाव के द्योतक धर्म है। क्षत्रिय में रजोगुण प्रधान और सत्वगुण गौण होता है। रजों गुण और सत्व गुण क्षत्रिय स्वभाव का निर्माण करते हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम्।[14]
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।

शूर वीरता तेज, धृति, दक्षता, युद्ध से पलायन न करना दान और शासन करने का भाव–ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म है।

प्रजा की रक्षा करना, यज्ञ सम्पादन करना, संसारिक विषय भोगों के प्रति आसक्ति न रखना भी क्षत्रियों के प्रमुख कर्तव्य थे –

प्रजानां रक्षणं दान मिज्याध्ययनमेव च।
विषयेस्व प्रसक्तिश्च क्षत्रिमस्य स्वभावतः।।[15]

क्षत्रिय राज्याध्यक्ष हुआ करता था। क्षत्रिय का कर्तव्य राज्य में विधि व्यवस्था स्थापित करना है जो भी अराजक तत्व शान्ति सुव्यवस्था रखने में बाधक होता है क्षत्रिय उसका दमन करता है। राज्य सत्ता के निर्हवन में क्षत्रिय राजा को ब्राह्मण पुरोहित परामर्श देकर सहायता पहुँचाता है। यह पुरोहित प्रमुख परामर्श दाता हुआ करता था जो सामान्यतया ब्राह्मण वर्ण का ही होता था अथवा ब्राह्मण की विशिष्टताओं से युक्त होता था। पुरोहित का शाब्दिक अर्थ ही हितकारी परामर्श देकर कल्याण कारी कृत्य मे प्रेरित करना है।

क्षत्रिय वंश के उद्भव का संकेत पुराणों से मिलने लगता है। मूल क्षत्रिय वंशों की संख्या के बारे में विद्वानों में एक मत नहीं है। कुछ सूर्य वंश–

चन्द्रवंश और अग्नि वंश की चर्चा करते हैं तो कुछ सूर्य वंश, चन्द्रवंश, अग्नि वंश, ऋषिवंश और दैत्य वंश अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि सूर्यवंश और चन्द्रवंश से ही सभी वंश शाखाएँ हैं। क्षत्रिय वर्ग की अनेक जातियाँ और उनमें समाहित कई देशों की विदेशी जातियों को राजपूत जाति कहा जाने लगा।

सूर्यवंश की दस शाखाएँ–कक्षवाह, राठौड, बडगूजर, सिकरवार, सिसौदिया, गहलौत, गौर, गहर वार, बल्ला, वैस, चन्द्रवंश की दस शाखाएँ–जादौन, भारी, तोमर, चन्देल, छोंकर, झाला, सिलार, बनाफर, करोच, सोमवंशी, अग्निवंश की चार शाखाएँ–चौहान, सोलंकी, परिहार, पमार।

ऋषिवंश की बरह शाखाएं–सेंगर, दिक्खित, गर्गवंशी, दायमा, गौतम, अनवार, दोनवार, दहिया, चौपर, खम्ब काकन, शौनक और बिसैन चौहान वंश की 24 शाखाएं हैं। इस तरह से वैदिक काल के पश्चात क्षत्रियों की जातियों एवं उपजातियों के अनेक भेद मिलते हैं।

वैश्य :– वैश्य शब्द का प्रयोग केवल ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में हुआ है। किन्तु विश् शब्द का प्रयोग अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे वैश्य को साक्षात् राष्ट्र कहा गया है।[16] क्योंकि उसी के द्वारा अर्जित अर्थ से सभी वर्गों का निर्वाह होता है (ऐतरेय आ० 8/26) जिसमें रजों गुण प्रधान और तमों गुण गौंण होता है वह वैश्य है।

रजोगुण और तमोगुण मिलकर वैश्य स्वभाव का निर्माण करते हैं। आदित्य प्राण देवता से सम्बद्ध होने के कारण विड् वर्ग तेज, एश्वर्य वाणिज्य, और वैभव आदि बलों से युक्त होता है।

वैश्य को उरु कहा गया है जिस प्रकार जँधाएँ सारे शरीर को थामे रहती हैं उसी प्रकार वैश्य वर्ग भी समाज संचालक है।

कृषि गौ रक्ष्य वाणिज्य वैश्य कर्म स्वभावजम्।[17]

कृषि, गोपालन और व्यापार ये सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं गौ पालन का तात्पर्य पशु पालन से है जो पशु पालन करता है, खेती करता है, व्यापार करता है वह वैश्य है। वैश्य सामान्यतया समाज के पोष, एवं आर्थिक समृद्धि के निमित्त था। वैश्य की धन सम्पदा के वैशिष्ट्य को 'पशु' की संज्ञा देकर स्पष्ट किया गया है। 'पशु' वैश्य की सम्पत्ति था। पशु व्यापार से ही वह प्रगति करता है।

कालान्तर में वैश्य वर्ग में अनेक जातियाँ एवं उपजातियों का विस्तार हुआ। जिसमें विशेष रुप से अग्रहरि, अग्रवाल, बार्नवाल, गहौइस, कसौंधन, महेश्वरी, खांडेल वाल, महावार, लौहानस, ओसवाल, रौनियार, चौरसियावैश्य, कौशलवैश्य, वार्ष्णेयवैश्य, रस्तोगी आदि हैं।

शूद्र :– पूषा प्राण देवता से सम्बद्ध होने के कारण शूद्र वर्ण का सम्बन्ध पृथ्वी से हैं। पृथ्वी मण्डल में जो तृण औषधि आदि हैं शूद्र उसका आत्मा होता है। वह सबकी सेवा करने वाला पाद भाग है। पैर सारे शरीर
का भार वहन कर उसे आराम पहुँचाते हैं इसी प्रकार शुद्र वर्ग भी समाज के प्रति उत्तरदायी रह कर अपने कर्तव्य का निर्वाह करता था। पैर शरीर में सबसे कर्मठ होते हैं। पैरों के बगैर इस शरीर की कोई गति नही तमोगुण शूद्र स्वभाव का निर्माण करता है।

परिचर्यात्मकं कर्म शुद्रस्यापि स्वभावजम्।[18]
शूद्र की प्रमुख विशेषता तप अथवा शारीरिक श्रम है।[19]

शारीरिक श्रम करके शूद्र वास्तव में तपस्वी का ही जीवन व्यतीत करता है। शुद्र समाज का एक अत्यावश्यक अंग है जिसे वैदिक समाज में उचित स्थान प्राप्त था।[20]

उत्तर वैदिक काल में चाण्डाल, निषाद, पर्णक, किरात, पौल्कस आदि का उल्लेख मिलता है। कालान्तर में कार्य व्यवसाय के आधार पर बहुत सी उपजातियों की सृष्टि होती चली गयी। जैसे जुलाहे, लौहार, कलाल, मछुआरा, धोबी, चर्मकार आदि। शुद्रों मे भी एक अन्त्यज (अस्पृश्य, अछूत) जाति भी जिनका समाज में अति निम्न स्थान था

और उन्हें कुछ इस तरह के कार्यों को करना पड़ता था जो अस्वच्छ और प्रदूषित होते थे। जैसे मरे हुए पशुओं की खाल को साफ करना, मैला उठाना, माँस बेचना आदि।

शूद्रों के लिए अनुसूचित जाति शब्द साइमन कमिशन द्वारा 1935 में प्रयोग किया गया था। अनुसूचित जातियों की सूची में प्रमुख जातियाँ हैं– चुहड़ा, भंगी, चमार, डोम, पासी, रैगर, मोची, दोसड़, थयान, पेरेयाँ तथा कोरी। उपरोक्त जातियों के अतिरिक्त भी कई अनुसूचित जातियाँ एवं जनजातियाँ भी हैं।

वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी उक्त तथ्यों को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि वैदिक समाज के विभाजन का आधार कर्मणा था जन्मना नहीं। वैदिक समाज में चारों वर्णों के कर्तव्य निश्चित थे और उन पर आरुढ़ रह कर चारों वर्ण राष्ट्र के उत्तरोत्तर उत्थान में संलग्न थे। उनमें किसी भी प्रकार का विरोध वैमनस्य नहीं था, बल्कि वे एक दूसरे के पूरक एवं सहायक थे। इस तरह समाज में चारों वर्ण सुखी सम्पन्न तथा स्वावलम्बी थे और सबका एक ही उद्देश्य था 'राष्ट्र' की उत्तरोत्तर उन्नति करना ऋग्वेद समाज की वर्ण व्यवस्था उन्मुक्त थी और वंशानुक्रम जन्म रुढ़ि का उसमें कोई स्थान नहीं था।

वैदिक वर्ण व्यवस्था के स्वरुप से विदित होता है कि वैदिक कालीन मानव समाज में वेदों में–

'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं' राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम।।[21]

प्रतिपादित परस्पर प्रगाढ़ प्रेम, स्नेह, सामञ्जस्य, सहानुभूति, सौहार्द की इस व्यवस्था का पालन होता था।

उत्तर वैदिक काल में चारों वर्णों के बीच भेदभाव उत्पन्न होने लगे। वर्ण व्यवस्था में पूर्ववत् लचीलापन नहीं देखा जाता है। परवर्ती संहिताओं के काल में वर्ण शब्द का प्रयोग जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक कालीन चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियों एवं उपजातियों का –

विकास अनेक कारणों से हुआ। जाति द्वारा अपनाया गया व्यवसाय पैतृक बनता गया। इन्हीं पैतृक व्यवसाय ने धीरे–धीरे एक जाति का स्वरुप ग्रहण कर लिया।

समाज में इसी जातिगत भावना के कारण ब्राह्मण को सर्वोच्च माना जाता है तथा शूद्र को सबसे निम्न व तिरस्कृत जाति का समझा जाने लगा। इस संकीर्ण व्यववस्था ने समाज का खण्डात्मक विभाजन कर दिया जिसके कारण व्यक्तियों पर खानपान एवं रहन सहन से सम्बन्धित प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

लेकिन आधुनिक काल में जाति एवं वर्ण सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन दिखाई देता है। रुदिवादिता और संकीर्णता शनैः–शनै दूर हो रही है। खानपान और रहन सहन नियमों का अतिक्रमण सामान्य रुपेण लक्षित होता है।